दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष आठवाँ
अंक पाँचवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

भाद्रपद
२४७८

उल्लास और विश्वास

मेरी परमात्मदशा मेरे आत्मा में से ही प्रगट होना है, मेरे आत्मा में ही मेरी परमात्मशक्ति भरी है, उसमें से मैं अपनी परमात्मदशा प्रगट करके अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करनेवाला हूँ—इसप्रकार स्वयं को अपनी परमात्मशक्ति का विश्वास और आत्मवीर्य का उल्लास आना चाहिए।

जिसे ऐसा परमात्मशक्ति का विश्वास और आत्मवीर्य का उल्लास हो, उसे अंतर में मुक्ति का मार्ग प्रगट हुए बिना नहीं रहेगा।

— पूज्य गुरुदेव

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

८१

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

- आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?
- शुद्धात्मा की कामनावाले जिज्ञासु शिष्य को...
- धर्म-पिता का गंभीर आशय समझे तो आत्मधर्म प्रगट हो !
- अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ
- नियमसार-परमागम का उद्देश
- धार्मिकोत्सव-प्रवचन

एक वैराग्य-प्रसंग

सोनगढ़ में आश्विन कृष्णा तृतीया के दिन भाई श्री हिम्मतलाल छोटालाल की धर्मपत्नी लाभकुंवर बहिन का ३५ वर्ष की उम्र में मात्र बारह घंटे की आकस्मिक व्याधि से स्वर्गवास हो गया। स्व० लाभुबहिन श्राविकाशाला में जाकर उत्साहपूर्वक तत्त्व का अभ्यास करती थीं। उनके अन्तिम समय से एक घंटे पूर्व पूज्य स्वामीजी उन्हें दर्शन देने पधारे थे; और जब पूज्य गुरुदेव ने मांगलिक सुना दिया कि उसीसमय उच्च स्वर में वे 'ॐ शांति...' उत्साहपूर्वक बोल उठी थीं। उनका उत्साह देखकर पूज्य गुरुदेवश्री ने कहा : 'बहिन ! ज्ञान-शान्तिरूप आत्मा का ध्यान रखना !' इस पर से अन्त समय तक की उनकी जागृति मालूम हो जाती है। जीवन में किये हुए सत्समागम के संस्कार साथ ले जाकर उन्होंने अपना जीवन सार्थक किया है। वास्तव में इस क्षणभंगुर जीवन में सत्समागम ही जीव को शरणभूत है। जीवन की ऐसी क्षणभंगुरता देखकर मुमुक्षुओं को तो क्षणमात्र के भी प्रमाद बिना शीघ्र आत्मकार्य कर लेने जैसा है।

लाभुबहिन के स्वर्गवास के दूसरे दिन भाई श्री हिम्मतभाई बम्बई से आ पहुँचे थे; इस प्रसंग पर उन्होंने आर्त-रौद्रध्यान न करके अत्यन्त धैर्य रखकर अपने जीवन को वैराग्य की ओर ढाला है और ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा अंगीकार की है, वह प्रशंसनीय है।

स्व० लाभुबहिन के स्मरणार्थ आत्मधर्म के ग्राहकों को एक पुस्तक भेंट देने के लिये सेठ छोटालाल नारणदास झोबालिया की ओर से रुपया १००१) दिये गये हैं; तथा रुपया ५०२) अलग-अलग विभागों में दिये हैं। तदुपलक्ष उनका आभार।

आत्मधर्म

भाद्रपद २४७८ ❀ वर्ष आठवाँ ❀ अंक पाँचवाँ

आत्मा कौन है 卐 卐 卐 और 卐 卐 卐 कैसे प्राप्त होता है ?

लेखांक तीन] [अंक ८७ से आगे

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उस पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार

जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि हे प्रभो ! 'यह आत्मा कौन है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है ?' उसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है और अनंत नयोंवाले श्रुतज्ञानप्रमाण द्वारा स्वानुभव से वह ज्ञात होता है। प्रमाण द्वारा ज्ञात होनेवाले आत्मा का यहाँ ४७ नयों से वर्णन चलता है; चार नयों से वर्णन किया वह पहले आ गया है, तत्पश्चात् यहाँ दिया जा रहा है।

[५] अस्तित्व-नास्तित्वनय से आत्मा का वर्णन

'आत्मद्रव्य अस्तित्व-नास्तित्वनय से क्रमशः स्व-पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व-नास्तित्ववाला है।' [यहाँ तीर का दृष्टान्त है, वह मूल में देखें।]

आत्मा स्वचतुष्टय से अस्तिरूप है और परचतुष्ट से नास्तिरूप, स्व से अस्तिरूप और पर से

नास्तिरूप—ऐसे 'अस्तित्व-नास्तित्व' धर्म को जो जाने, उसका नाम 'अस्तित्व-नास्तित्वनय' है। स्व से अस्ति और पर से नास्ति—ऐसे दोनों धर्म तो आत्मा में एक साथ ही हैं। वाणी द्वारा क्रम से उन धर्मों का कथन हो सकता है, और उनके वाच्यरूप एक 'अस्तित्व-नास्तित्व' धर्म भी आत्मा में है, तथा उसे जाननेवाला अस्तित्व-नास्तित्वनय भी है। वस्तु का धर्म, उसका कथन करनेवाली वाणी और उसे जाननेवाला ज्ञान—यह तीनों स्वतंत्र है, कोई किसी के कारण नहीं है।

वस्तु में एकसाथ अस्ति-नास्तिधर्म हैं और वे वाणी द्वारा कथंचित् कहे भी जा सकते हैं; आत्मा सर्वथा अवक्तव्य नहीं है। आत्मा स्वयं वाणी नहीं बोल सकता, परन्तु वाणी द्वारा आत्मा के धर्म का वर्णन हो सके—ऐसा आत्मा का एक धर्म है। यदि आत्मा सर्वथा अवक्तव्य ही हो तो सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में जो वस्तुस्वरूप ज्ञात हुआ, उसकी दूसरे जीवों को कैसे खबर पड़ेगी। और यदि आत्मा सर्वथा अवक्तव्य ही हो तो 'आत्मा अवक्तव्य है'—ऐसा कहा, वहीं कथंचित् वक्तव्यपना हो गया। यहाँ आत्मा को वक्तव्य कहा, उसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा कभी कभी वाणी बोल सकता है। आत्मा तीनकाल में वाणी कर ही नहीं सकता, और न वह वाणी से ज्ञात होता है; क्योंकि वाणी तो जड़ है। आत्मा 'वाणी से वक्तव्य' है परन्तु 'वाणी से ज्ञात होने योग्य' नहीं है;—ज्ञात तो अपने ज्ञान से ही होता है।

आत्मा में स्व से अस्तित्व है और पर से नास्तित्व भी साथ ही है। छद्मस्थ की वाणी द्वारा वे दोनों धर्म भले ही एकसाथ न कहे जा सकें, परन्तु क्रमशः वे दोनों धर्म कहे जा सकते हैं; वस्तु में तो धर्म एकसाथ ही हैं और ज्ञान भी इन्हें एकसाथ जानता है।

जिसप्रकार स्व से सद्भावरूप अस्तित्वधर्म वस्तु का अपना स्वभाव है। उसीप्रकार पर से न होनेरूप-अभावरूप-नास्तित्वधर्म भी वस्तु का अपना स्वभाव है।

शंका—वस्तु में मात्र अस्तित्व धर्म ही कहिए न! नास्तित्वधर्म कहने में तो पर की अपेक्षा आती है, इसलिये उसका क्या काम है?

समाधान—जिसप्रकार स्व-रूप अस्तित्व, वह वस्तु का अपना धर्म है; उसीप्रकार पर-रूप से नास्तित्व भी वस्तु का अपना ही धर्म है। उसमें पर की अपेक्षा भले आये परन्तु वह धर्म पर के कारण या पर के आश्रय से नहीं है। पर-रूप न होना—ऐसा जो पर के अभावस्वरूप भाव (नास्तित्वधर्म) है, वह भी स्व-ज्ञेय का अंश है; यदि उसे न मानें तो पूर्ण स्वज्ञेय की प्रतीति नहीं होती। और यदि आत्मा में मात्र अस्तित्व ही मानोगे और नास्तित्व नहीं मानोगे तो, जिसप्रकार

आत्मा चेतनस्वरूप से अस्तिरूप है, उसीप्रकार वह जड़स्वरूप से भी अस्तिरूप हो जायेगा। 'आत्मा जड़स्वरूप नहीं है'—ऐसा कहते ही आत्मा का नास्तित्वधर्म सिद्ध हो जाता है। जड़ तो तीनों काल जड़ रहता है और चेतन तीनों काल चेतन रहता है; उसीप्रकार एक आत्मा दूसरे आत्मारूप नहीं होता।

यहाँ तो आचार्यदेव ने अस्ति-नास्ति के सातों भंगों का सात धर्मरूप से वर्णन किया है। एक अस्तित्वधर्म और दूसरा नास्तित्वधर्म; तदुपरांत अस्तित्व-नास्तित्व नाम का तीसरा धर्म भी आत्मा में है। 'आत्मा में अस्तित्व और नास्तित्व यह दो ही धर्म हैं और शेष पाँच भंग कहे, वे तो उपचार से ही हैं'—ऐसा नहीं है; सप्तभंगी के जो सात भंग हैं, उन सातों के वाच्यरूप सात भिन्न-भिन्न धर्म आत्मा में हैं। जिसप्रकार वाचक में सात प्रकार हैं, उसीप्रकार वाच्य में भी वे सात धर्म है।

देखो, यह किसी बाह्य पदार्थ की बात नहीं है, परन्तु अपना आत्मा अनंतधर्मों से परिपूर्ण चैतन्यपिण्ड है, उसी की यह बात है। इसलिये अपने आत्मा की महिमा लाकर यह बात समझना चाहिए। अनेक प्रकार आयें, उससे आकुलित नहीं होना चाहिए। अनेक प्रकारों को जानना, वह कहीं उपाधि नहीं है; वह तो ज्ञान की निर्मलता का कारण है। जिसे अपना आत्महित करना हो—धर्म करना हो, उसे प्रथम इतना तो निश्चित कर लेना चाहिए कि किसी भी बाह्य वस्तु से मेरा धर्म नहीं होता है; अंतर में आत्मस्वभाव को समझे बिना किसी भी प्रकार धर्म नहीं होता; इसलिये प्रथम आत्मा की सच्ची पहिचान करना ही धर्म का उपाय है। जिसे इस बात की आवश्यकता मालूम हो और जिज्ञासु होकर समझना चाहे, उसकी समझ में अवश्य ही आ जायेगी।

इस परिशिष्ट में शिष्य ने यही पूछा था कि प्रभो! यह आत्मा कैसा है? जिसे धर्म करने की भावना जागृत हुई है, उसे प्रथम आत्मा समझने का ऐसा प्रश्न उठता है; क्योंकि आत्मा कैसा है, उसे जाने बिना धर्म नहीं हो सकता। धर्म तो आत्मा में एकाग्रतारूप दशा है। प्रथम, आत्मा कैसा है, वह पहिचाने और उसकी महिमा जाने तो उसमें स्थिर होकर ज्ञान एकाग्र हो। आत्मा कैसा है, वह जाने बिना जीव ने अनादि से पर में और विकार में एकाग्रता की है, उसका नाम अधर्म है। अनंत धर्मोंवाले आत्मा की महिमा जानकर उसमें एकाग्र होना, वह धर्म है। ऐसा धर्म प्रगट करने की भावनावाला शिष्य पूछता है कि 'प्रभो! यह आत्मा कैसा है—आत्मा कितना महान है-कि जिसकी महिमा जानकर उसमें लीन होने से मेरी परमात्मदशा प्रगट हो जाये और संसार-भ्रमण दूर हो?'

—ऐसे शिष्य को समझाने के लिये आचार्यदेव आत्मा का वर्णन करते हैं; आत्मा अनंत

स्वभावों को धारण कर रखनेवाला द्रव्य है; अनंतधर्मों वाला आत्मा स्वानुभव से ज्ञात होता है। स्वानुभव के अतिरिक्त बाह्य क्रियाकाण्ड आदि किसी भी उपाय से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। आत्मद्रव्य का स्वरूप समझाने के लिये यहाँ ४७ नयों से उसका वर्णन किया है। उसमें प्रथम ऐसा कहा है कि द्रव्यनय से आत्मा सामान्य चिन्मात्र एकरूप है। फिर उसके समक्ष दूसरा धर्म बतलाते हुए कहा कि पर्यायनय से आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि भेदरूप है। इसप्रकार वस्तु में परस्पर-विरुद्ध दो धर्म सिद्ध किये। वस्तु में समस्त धर्म एकसाथ ही हैं। पहले द्रव्यनय और पर्यायनय—इन दो नयों से वर्णन करके पश्चात् तीसरे बोल से सप्तभंगी का वर्णन प्रारम्भ किया है। तीसरे बोल में ऐसा कहा कि अस्तित्वनय से देखने पर आत्मद्रव्य स्वचतुष्टय से अस्तित्ववाला है; चौथे बोल में कहा कि नास्तित्वनय से आत्मद्रव्य परचतुष्टय से नास्तित्वाला है और इस पाँचवें बोल में ऐसा कहते हैं कि अस्तित्व-नास्तित्वनय से देखने पर आत्मद्रव्य क्रमशः स्व-परचतुष्टय से अस्तित्व-नास्तित्व वाला है।

कई लोगों को ऐसा ज्ञान करने में तो प्रमाद आता है और अन्तर में ध्यान करना चाहते हैं; परन्तु ऐसे धर्मों द्वारा आत्मा को जाने बिना ध्यान किसका करोगे? आत्मा की महिमा कैसी है, वह तो ज्ञान में भासित नहीं हुआ है, फिर ज्ञान उसमें स्थिर कैसे होगा? स्थूल विकल्प कम हों और अन्तर में साता वेदनीय के कारण आनंद जैसा लगे, इसलिये मान लेता है कि मुझे बहुत एकाग्रता होती है; परन्तु वास्तव में उसे एकाग्रता नहीं होती किन्तु मूढ़ता बढ़ती जाती है। मूढ़ता के कारण वह अपने परिणाम को नहीं पकड़ सकता। अभी तत्त्व के निर्णय का भी ठिकाना नहीं है, वहाँ एकाग्रता कैसी और आनंद कैसा? मूढ़रूप से राग में एकाग्र होकर आनंद मान रहा है, वह धर्मी नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ तो आचार्यदेव ने स्पष्टरूप से वस्तुस्वरूप समझाया है। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र भिन्न-भिन्न, अपने-अपने अनंत धर्मों वाला है। प्रत्येक आत्मा में अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्त्व और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्व—ऐसे दोनों प्रकार एक ही साथ हैं।

शंका—अकेला अस्तित्व ही कहिये न! एक अस्तित्व में द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव—ऐसे चार प्रकार क्यों डालते हैं? चार प्रकारों को जानने से तो विकल्प होता है?

समाधान—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव ऐसे प्रकार वस्तु में ही हैं, वस्तु के द्रव्य को, क्षेत्र को, काल को और भाव को बराबर समझे, तभी वस्तु के अस्तित्व को माना कहा जाता है। द्रव्य, क्षेत्र,

काल और भाव—ऐसे चार प्रकारों को जानना, वह तो वस्तु का यथार्थ ज्ञान है, वह कहीं विकल्प का नहीं है। 'आत्मा है'—ऐसा माने, परन्तु उसका क्षेत्र कितना है, उसकी पर्यायें कैसी हैं और धर्म कैसे हैं, वह न जाने तो आत्मवस्तु का अस्तित्व ही यथार्थ रूप से ख्याल में नहीं आयेगा। अस्तित्व कहने से उसमें द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव इन चारों का समावेश हो जाता है; इसलिये द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव जानना चाहिए।

द्रव्य—आत्मा अनंत गुण-पर्याय का पिण्ड है, वह द्रव्य है। अन्य अनंत आत्मा और जड़ द्रव्यों से वह भिन्न है।

क्षेत्र—आत्मा अपने असंख्य प्रदेशोंवाला है, वह उसका स्वक्षेत्र है। जिस क्षेत्र में आत्मा है, उसी क्षेत्र में अन्य जीव और पुद्गलादि द्रव्य भी स्थित हैं, किन्तु प्रत्येक का स्वक्षेत्र पृथक् है।

काल—प्रत्येक समय की पर्याय, वह आत्मा का स्वकाल है। प्रत्येक पर्याय अपने से अस्तिरूप और दूसरे से नास्तिरूप है।

भाव—आत्मा की अनंत शक्तियाँ, वह आत्मा का स्व-भाव है। इसप्रकार अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से आत्मा है, तथा पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है; ऐसा अस्तित्व-नास्तित्व नाम का आत्मा का धर्म है।

निगोद से लेकर सिद्ध तक की आत्मा की कोई भी पर्याय लो, वह प्रत्येक पर्याय स्व से है और पर से नहीं है। निगोद पर्याय हो, उस समय वह पर्याय अपने से है और पर से नहीं है, सिद्ध पर्याय भी अपने से है और पर से नहीं है, साधक पर्याय भी अपने से है और पर से नहीं है। बस! समय-समय की प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र है। यदि स्वतंत्र पर्याय को न मानें तो स्वकाल से अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा।

निगोद की पर्याय स्वतंत्र है—ऐसा कहा, उसका अर्थ यह नहीं समझना कि वह पर्याय भी पूरी है। जिसप्रकार सिद्ध पर्याय परिपूर्ण है, उसीप्रकार कहीं निगोद पर्याय भी परिपूर्ण नहीं है। निगोद की पर्याय तो अनंतवें भाग हीन है; उस पर्याय में ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि अनंतवें भाग हैं। परन्तु यहाँ तो ऐसा कहना है कि वह पर्याय अत्यन्त हीन होने पर भी स्वकाल से पूर्ण द्रव्य के अस्तित्व को बनाए रखती है; इसलिये उस एक पर्याय में पूर्ण द्रव्य के अस्तित्व को सिद्ध करने की शक्ति है। यदि उस एक अंश को निकाल दें तो द्रव्य ही सिद्ध नहीं होता। वर्तमान प्रवर्तित स्वकाल के बिना द्रव्य का अस्तित्व ही कहाँ से निश्चित होगा? 'अस्तित्व' कहने से उसमें स्वकाल भी साथ में आ ही जाता है।

निगोद पर्याय के समय भी आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्व-चतुष्टय से परिपूर्ण अस्तित्ववाला है। यद्यपि पर्याय का परिणमन पूरा नहीं है परन्तु अस्तित्व तो प्रतिसमय पूर्ण ही है। पीछे की विशेष पर्याय की अपेक्षा वर्तमान पर्याय में अपूर्णता कहलाती है, परन्तु वर्तमान समय की अपेक्षा तो उस समय का अस्तित्व स्वचतुष्टय से पूर्ण है। जब देखो तब एकसमय में आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव में स्थित है। आत्मा एकसमय भी पर की अपेक्षा से स्थित नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वचतुष्टय में ही विद्यमान है। [अपूर्ण] ●●

शुद्धात्मा की कामनावाले जिज्ञासु शिष्य को....

जिसे शुद्ध आत्मा समझने की कामना जागृत हुई है—ऐसे जिज्ञासु शिष्य को प्रश्न उठता है कि—'ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है कि जिसका स्वरूप समझना चाहिए।' अनंतानंत काल से आत्मा के शुद्धस्वभाव की बात सुनी नहीं है, रुचि नहीं है, जानी नहीं है, अनुभव नहीं किया है; इसलिये शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा का शुद्धस्वभाव कैसा है?—ऐसे जिज्ञासु शिष्य को आचार्यदेव शुद्धात्मा का स्वरूप समझाते हैं।

जैसे—रेगिस्तान में किसी मनुष्य को तृषा लगी है, पानी पीने के लिये तरस रहा है; उसे कोई पानी का स्थान बतलाये तो वहाँ पहुँचने के लिये उसे कितनी उत्कंठा होती है! और फिर पानी पी कर कितना तृप्त होता है! उसीप्रकार जिसे आत्मस्वरूप समझने की आतुरता है, वह शुद्ध आत्मा की बात सुनकर कितना आनंदित होगा! और फिर सम्यक्-पुरुषार्थ करके आत्मस्वरूप प्राप्त करके कितना तृप्त होगा! शुद्ध आत्मस्वरूप को जानने की जिसे तीव्र जिज्ञासा हुई है, उसे समयसार सुनाया जाता है।

धर्म-पिता का गंभीर आशय समझे तो आत्मधर्म प्रगट हो!

जिसप्रकार पिता ने बही में लिखा हो कि 'वैशाख सुदी २ के दिन सबेरे दस बजे मंदिर के शिखर के नीचे एक लाख स्वर्ण-मुहरें डाटी हैं।' पिता के लिखने का आशय न समझकर यदि पुत्र, मंदिर के शिखर को खोदने लग जाये तो स्वर्णमुहरें नहीं मिलेंगी। परन्तु पिता का हृदय जाननेवाले उनके किसी मित्र से उस लेख का रहस्य समझ ले कि—वैशाख सुदी २ के दिन सबेरे दस बजे मंदिर के शिखर की परछाईं अपने घर के आँगन में जिस स्थान पर पड़े, वहाँ स्वर्णमुहरें डाटी हैं।—तो उस स्थान पर खोदने से धन की प्राप्ति हो सकती है। उसीप्रकार धर्म-पिता श्री सर्वज्ञदेवप्रणीत शास्त्रों में जो लिखा है, उसकी गंभीरता का रहस्य क्या है, वह अज्ञानी लोग नहीं समझते और अपनी दृष्टि के अनुसार अर्थ करके बाह्य में आत्मधर्म को ढूँढ़ते हैं; उन्हें आत्मधन की प्राप्ति नहीं होती। यदि ज्ञानी-सद्गुरु के निकट जाकर उसका गंभीर आशय और रहस्य समझकर अंतर में ही आत्मधर्म को ढूँढ़े तो आत्मा में से पवित्र धर्म प्रगट हो! जिसप्रकार चतुर पिता अपनी सम्पत्ति दूसरे के घर में रखने नहीं जाता, उसीप्रकार आत्मा का धर्म बाह्य से—पर के आश्रय से—प्राप्त हो जाता है—ऐसा भगवान कभी नहीं कह सकते। जहाँ लक्ष्मी गढ़ी हो, वहाँ ढूँढ़े तो मिल सकती है; उसीप्रकार आत्मा का धर्म कहीं बाह्य में नहीं है परन्तु आत्मा में ही है—ऐसा समझकर आत्मस्वभाव में ढूँढ़े तो आत्मधर्म प्रगट हो!

[समयसार-प्रवचन से]

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[१]

जीवत्वशक्ति

[वीर सं० २४७५ कार्तिक शुक्ला ४]

आत्मद्रव्य को कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्रभाव का धारण जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है—ऐसी जीवत्वशक्ति आत्मा के ज्ञानमात्र भाव में उछलती है।

सर्वप्रथम आत्मा का जीवन बतलाने के लिये यह जीवत्वशक्ति ली है। यह प्रधानभूत शक्ति है। आत्मा सदैव अपनी जीवत्वशक्ति से ही जी रहा है; इसलिये यह जीवत्वशक्ति आत्मद्रव्य को कारणभूत है। शरीर, आयु, रोटी आदि परवस्तुएँ आत्मा के जीवन का कारण नहीं हैं; यह जीवत्वशक्ति ही आत्मा के जीवन का कारण है, उसी से आत्मा अनादि-अनंत जी रहा है।

आत्मा स्वयं त्रिकाल चैतन्यस्वरूप है;—ऐसा बतलाने के लिये यहाँ चैतन्यमात्रभाव को आत्मद्रव्य का कारण कहा है। वास्तव में कारण-कार्य पृथक नहीं हैं, परन्तु चैतन्यभाव द्वारा आत्मा की सिद्धि होती है, इसलिये उसे आत्मा का कारण कहा है। आत्मा, रागादि भावों से नहीं टिका है परन्तु चैतन्यभाव से ही वह त्रिकालस्थायी रहनेवाला है। पर से और विकार से टिकना अज्ञानी जीव भले ही ही माने, परन्तु उसका आत्मा भी चैतन्यमात्रभाव से ही टिकता है। पहले क्षण का राग दूसरे क्षण नष्ट हो जाता है, तथापि आत्मा तो चैतन्यप्राण से जैसे का तैसा बना रहता है। देह का संयोग भी अनंतबार आया और छूटा, परन्तु आत्मा तो अनादि से अपनी जीवत्वशक्ति से जी रहा है। यहाँ शरीर की बात नहीं है। शरीर तो आयुकर्म के निमित्त से टिकता है, परन्तु आत्मा कहीं आयु कर्म से नहीं रहता; आत्मा के आयुष्य की मर्यादा नहीं है, वह तो अनादि-अनंत अपने चैतन्यप्राणों से जीवित रहता है।

अज्ञानियों को ऐसा लगता है कि मानों शरीर ही अपना जीवन है और शरीर छूट जाने से मृत्यु हो जाती है; परन्तु आत्मा तो सदैव अपनी जीवत्वशक्ति से जीवित ही है। यदि ऐसी जीवनशक्ति को जाने तो मृत्यु का भय दूर हो जाये। अनंत सिद्ध भगवन्त शरीर के बिना ही अपने चैतन्यप्राण से परम सुखी जीवन जी रहे हैं।

आत्मा का जीवन कैसा होता है, वह यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं। हे जीव! यदि तुझे सच्चा जीवन जीना हो तो यह जीवत्वशक्ति जिसमें उछल रही है—ऐसे अपने ज्ञानमात्र आत्मा को देख! तेरा आत्मा रोटी, शरीर, पैसा या प्रतिष्ठा से नहीं टिकता, परन्तु अनादि-अनंत जीवत्वशक्ति से ही वह टिका है। ऐसी जीवत्वशक्ति प्रत्येक आत्मा में त्रिकाल है, परन्तु यहाँ तो, अपने ज्ञानमात्र भाव के साथ यह शक्ति परिणमित होती है—ऐसा साधक को बतलाना है।

चैतन्यमात्रभाव को धारण कर रखना, वह जीवत्वशक्ति का लक्षण है; और वह चैतन्यमात्रभाव आत्मद्रव्य का कारण है। यदि चैतन्यमात्रभाव न हो तो जीव ही न हो; चैतन्यभाव के बिना आत्मद्रव्य ही नहीं हो सकता; इसलिए चैतन्यभाव आत्मद्रव्य का कारण है। ऐसे चैतन्यभावप्राण को धारण कर रखना, वह जीवत्वशक्ति का लक्षण है, उस शक्ति से जीव सदैव जी रहा है।

जीव की अनंत शक्तियों में एक ऐसी जीवनशक्ति है। उस जीवनशक्ति का क्या कार्य है?—कि चैतन्यभाव को धारण करके जीव को बनाए रखना, वह जीवनशक्ति का कार्य है। यहाँ तो जीव को टिकने का कारण अपने चैतन्यभाव को धारण करने वाली जीवत्वशक्ति ही है—ऐसा कहा है। किसी निमित्त से-संयोग से अथवा विकार से जीव नहीं टिकता। दस प्रकार के व्यवहारप्राणों से जीव जीता है—यह बात भी यहाँ नहीं ली है। जीव तो सदैव अपने चैतन्यभावप्राणों से ही जीता है, ऐसी उसकी जीवत्वशक्ति है। ऐसे चैतन्यमात्रभावरूप आत्मा को जो लक्ष में ले उसके अनंत गुण निर्मलस्वरूप परिणमित हुए बिना नहीं रहेंगे। प्रथम आचार्यदेव ने अनंतगुणों से अभेद ज्ञानमात्र आत्मा का लक्ष कराया है, उस अभेद आत्मा के लक्षपूर्वक इन शक्तियों का ज्ञान कराते हैं।

आत्मा कहाँ देखे तो उसे धर्म हो—उसकी यह बात चलती है। पर में तो अपना एक भी धर्म नहीं है, इसलिये परसन्मुख देखने से तो धर्म नहीं होता, विकारसन्मुख देखने से भी धर्म नहीं होता, क्योंकि वस्तु के अनंत गुणों में से एक गुण कहीं पृथक् होकर परिणमित नहीं होता; इसलिये एक गुण के लक्ष से धर्म नहीं होता परन्तु भेद का विकल्प-राग होता है। एक समय में अनंत गुणों से

अभेद चैतन्यमूर्ति आत्मा है, उसके सन्मुख देखने से ही धर्म होता है। अभेद आत्मा को लक्ष में लेने से उसकी अनंतशक्तियाँ स्वाश्रय से निर्मल स्वरूप से परिणमित होती हैं। उन शक्तियों का यह वर्णन चल रहा है।

चैतन्यभावप्राण को धारण कर रखे—ऐसी आत्मा की जीवत्वशक्ति है, वह सदैव है, उसी से आत्मा नित्य जीवित है। शरीर तो आत्मा में एक क्षण भी नहीं रहता, उसका तो आत्मा में अभाव है; और द्रव्य-प्राणों का भी आत्मा में अभाव है, वे एक समयमात्र भी आत्मा में नहीं हैं, इसलिए वह आत्मा का गुण नहीं है और न उससे आत्मा जीता है। इसलिये शरीर या द्रव्यप्राणों की ओर देखने से धर्म नहीं होता।

दया-भक्ति, हिंसा-चोरी आदि शुभ-अशुभभाव आत्मा की अवस्था में एक समयपर्यंत ही रहते हैं; वह भी आत्मा का त्रिकाली स्वरूप नहीं है, और न उससे आत्मा जीता है। गुण किसे कहा जाता है ?—जो वस्तु के सर्व क्षेत्र में और सर्व अवस्थाओं में रहे, उसे गुण कहते हैं। विकारी परिणाम आत्मा के सर्व क्षेत्र में हैं, परन्तु वे आत्मा के साथ सर्व काल नहीं रहते, उनका काल एक समय जितना ही है। उनके सन्मुख देखने से भी आत्मा का धर्म नहीं होता।

शरीर का तो आत्मा में त्रिकाल अभाव है, इसलिये उसकी अवस्था के साथ आत्मा के धर्म का संबंध नहीं है; आहार ले या न ले, शरीर निर्बल हो जाये या पुष्ट रहे, बोले या मौन रहे, चले या स्थिर रहे,—उस किसी भी क्रिया के साथ आत्मा के धर्म का संबंध नहीं है। पर्याय में होनेवाला विकारभाव, आत्मा के पूर्ण क्षेत्र में एक समय जितना व्याप्त हुआ है, उसके सन्मुख देखने से भी आत्मा की पहिचान नहीं होती; इसलिये धर्म नहीं होता।

अब, आत्मा में एकसाथ अनंत शक्तियाँ त्रिकाल रहती है; उनमें से एक शक्ति को पृथक करके लक्ष में ले तो भी धर्म नहीं होता। यदि अनंतशक्ति के पिण्डरूप पूर्ण आत्मा को लक्ष में ले तो धर्म होता है। यहाँ जिन शक्तियों का वर्णन किया है, वे सब त्रिकाली हैं और आत्मा में एकसाथ विद्यमान हैं;—ऐसे आत्मा के लक्षपूर्वक उसकी शक्तियों को पहिचानने की यह बात है।

सर्वप्रथम जीवत्वशक्ति का वर्णन किया है। लोग कहते हैं कि अमुक पुरुष का जीवनचरित्र कहो! तो यहाँ आचार्यदेव ने जीवत्वशक्ति कहकर आत्मा का जीवनचरित्र कहा है कि आत्मा पूर्वकाल में चैतन्यप्राण धारण करके जीता था, इससमय भी चैतन्यप्राण से ही जीवित है और भविष्य में भी वह चैतन्यप्राण से ही जियेगा।—ऐसा आत्मा का त्रैकालिक जीवन है। आत्मा

चैतन्यमात्र भावप्राण को त्रिकाल धारण कर रखता है,—ऐसी आत्मा की जीवत्वशक्ति आत्मा के सर्वक्षेत्र और सर्वकाल में विद्यमान है।

यहाँ ४७ शक्तियों का वर्णन पृथक्-पृथक् है; परन्तु उस प्रत्येक पृथक् शक्ति पर देखने का प्रयोजन नहीं है। समस्त शक्तियों का पिण्ड आत्मा है, उसके सन्मुख देखना है। संयोगरहित, विकाररहित और अनंतशक्तिसहित ऐसा ज्ञानमात्रभाव, वह आत्मा है, उसमें अनंतशक्तियाँ आ जाती हैं।

शरीरादि परवस्तुएँ तो आत्मा के क्षेत्र में भी नहीं हैं और उसकी अवस्था में भी नहीं हैं।

रागादि विकार आत्मा के क्षेत्र में हैं परन्तु उसकी सर्वअवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते। यह जीवत्वशक्ति आदि अनंत शक्तियाँ तो आत्मा के पूर्ण भाग में और सर्व अवस्थाओं में विद्यमान हैं।

प्रश्न—जीवत्वशक्ति आत्मा के द्रव्य में है, गुण में है, या पर्याय में है ?

उत्तर—जीवत्वशक्ति द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों में विद्यमान हैं।

विकारीभाव आत्मा के द्रव्य में या गुण में व्याप्त नहीं है, मात्र एकसमयपर्यंत की एक पर्याय में विद्यमान हैं। और शरीरादि जड़ पदार्थ तो आत्मा के द्रव्य-गुण या पर्याय—किसी में भी विद्यमान नहीं हैं, वे तो बिल्कुल भिन्न हैं। जीवत्वशक्ति तो द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों में विद्यमान है। जीवत्वशक्ति के कारण पूर्ण द्रव्य जीवंतज्योति है, इसलिये द्रव्य में जीवत्व है, गुण में भी जीवत्व है और पर्याय में भी जीवत्व है। दयादि भाव कहीं पर्याय के सच्चे प्राण नहीं है। चैतन्यप्राण को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति से ही द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों टिके हैं। प्रत्येक पर्याय का जीवन भी जीवत्वशक्ति से स्वत: टिका है।

प्रश्न—अन्न को ग्यारहवाँ प्राण कहा जाता है न ?

उत्तर—यहाँ तो कहा है कि आत्मा में शरीर का ही अभाव है, तब फिर अन्न से आत्मा जिये—वह बात ही कहाँ रही ? आत्मा का जीवन तो चैतन्यप्राण से टिका है। अन्न आत्मा का ग्यारहवाँ प्राण नहीं है और न पैसा बारहवाँ प्राण है। आत्मा के चैतन्यजीवन में से दस प्राण भी निकाल दिये और रागादि को भी निकाल दिया। गुण-गुणी भेद का विकल्प उठे, वह भी राग है, वह राग आत्मा के त्रिकाली द्रव्य में गुण में या समस्त पर्यायों में नहीं रहता; इसलिये वह भी आत्मा के जीवन का कारण नहीं है।

जीवत्वशक्ति:—आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त होती है।

शरीरः—आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय किसी में भी व्याप्त नहीं होता।

रागादिः—आत्मा के द्रव्य-गुण में व्याप्त नहीं होते, सर्व अवस्थाओं में भी व्याप्त नहीं होते, मात्र एकसमयपर्यंत की पर्याय में व्याप्त होते हैं।

इसप्रकार, अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापक ऐसी जीवत्वशक्ति से आत्मा जीता है।

लोग कहते हैं कि—'आशारहित जीवन, जीवन ही नहीं है।' परन्तु वास्तव में तो आत्मा आशा के बिना ही जीता है। यहाँ तो ऐसा कहा है कि 'जीवत्वशक्ति के बिना जीवन नहीं है।' आशा तो एकसमय की विकृति है। वीतरागी आत्माओं को किसी भी प्रकार की आशा नहीं होती, वे आशा के बिना ही जीते हैं। लोग आशा को अमर कहते हैं, परन्तु वास्तव में आशा अमर नहीं है, किन्तु जीवत्वशक्ति से आत्मा ही अमर है। आत्मा का जीवन आशा से नहीं किन्तु जीवत्वशक्ति से ही टिका है।

आत्मा तो मानों पराश्रय से ही जीता हो—ऐसा अज्ञानी मानते हैं; यहाँ आचार्य भगवान आत्मा की अनंत शक्तियाँ बतलाकर स्वाश्रित जीवन बतलाते हैं। अज्ञानी कहते हैं कि 'अन्न सम प्राण नहीं,' यानि आत्मा तो मानों अन्न के ही आधार से जीता हो!—ऐसा वे मानते हैं; परन्तु अन्न और पुद्गल की आहारवर्गणा आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय में तो कहीं आते ही नहीं; इसलिये आत्मा अन्न से नहीं जीता परन्तु तीनों काल अन्न के अभाव से ही जीता है। 'अन्न के बिना मेरा नहीं चल सकता'—ऐसा माननेवाले ने आत्मा की जीवनशक्ति को नहीं जाना है। इसीप्रकार पैसादि का भी समझ लेना।

'आत्मा अमर है' ऐसा लोग कहते हैं, लेकिन किसप्रकार? वह नहीं समझते। यहाँ आचार्यदेव यह बात समझाते हैं। आत्मद्रव्य को कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्रभाव को धारण करने वाली जीवत्वशक्ति आत्मा के परिणमन में उछलती है, उससे आत्मा सदैव जीता है। यदि चैतन्यमय जीवनशक्ति का नाश हो तो आत्मा मरे, परन्तु वह शक्ति तो आत्मा में सदैव-त्रिकाल है, इसलिये आत्मा कभी नहीं मरता, वह अमर है।

गत वर्ष (वीर सं० २४७४ में) 'सुप्रभात मांगलिक' के रूप में इस जीवनशक्ति का वर्णन आया था। आत्मा का जीवन कैसा है, वह आचार्यदेव बतलाते हैं। आत्मा शरीर से, आहार-जल से, श्वास से या पैसादि से नहीं जीता, उनसे तो आत्मा पृथक् है। आत्मा अनादि-अनंत ज्ञान-दर्शनमय चैतन्यप्राण से जीता है, उस चैतन्यप्राण को जीवत्वशक्ति धारण कर रखती है। आत्मा में ज्ञानशक्ति

की भाँति यह जीवनशक्ति है। ज्ञान, दर्शन, सुख, आनन्द, पुरुषार्थ, शांति, प्रभुता, जीवत्व—यह समस्त शक्तियाँ ही आत्मा का परिवार है, और वह सदैव आत्मा के साथ ही रहता है; अपने अनंत गुणोंरूपी कुटुम्ब का वियोग आत्मा को कभी नहीं होता। जिसे अपने ऐसे कुटुम्ब की खबर नहीं है, वह जीव बाह्य कुटुम्ब, लक्ष्मी, शरीरादि को अपना मानकर उन्हें सदैव बनाए रखने की भावना करता है, वह अज्ञान है और दुःख का कारण है। अहो! मैं तो सदैव अपनी जीवनशक्ति से ही जीनेवाला हूँ, ज्ञान-आनंद आदि अनंत गुणरूपी मेरा कुटुम्ब है; अपने अनंत गुणों के साथ मेरा परिपूर्ण पवित्र जीवन टिका रहे!—ऐसी भावना आत्मार्थी जीव करते हैं और वही मांगलिक है।

आत्मा चैतन्यस्वरूप है, और यह शरीर तो जड़-अचेतन है। चैतन्यस्वरूपी आत्मा अचेतन शरीर के आधार से कैसे जियेगा? शरीर को अथवा शरीर के प्राणों को आत्मा धारण नहीं करता और न उससे आत्मा जीता है। उसीप्रकार पुण्य के भाव को भी आत्मा अपने स्वभाव में धारण नहीं करता और न उसके आधार से जीता है; पुण्य छूट जाये, तथापि अपने शुद्ध चैतन्यप्राण को धारण करके आत्मा जीता रहता है। आत्मा सदैव शुद्ध ज्ञान-दर्शनरूप चैतन्यप्राण को धारण करके ही जीता है। प्रत्येक जीव में ऐसी 'जीवत्व' नाम की मुख्य शक्ति है; यह जीवत्वशक्ति जीव के जीवन की जड़ी बूटी है। यदि इस जड़ी बूटी को धारण करे तो मृत्यु का भय दूर हो जाये। शरीर को आत्मा ने कभी धारण किया ही नहीं है और न विकार को भी कभी अपने स्वभाव में धारण किया है; शरीर और विकार से भिन्न ऐसे चैतन्य प्राण को धारण करके ही जीव सदैव जी रहा है। ऐसे चैतन्यशक्तिमय अपने जीवन को पहिचानने से पराश्रयभाव दूर होकर स्वाश्रितभावरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

देखो! आचार्यदेव जीव का कुटुम्ब बतलाते हैं। ज्ञानमात्रभाव में आ जाने वाली अनंत शक्तियाँ ही जीव का अविभक्त और अविनाशी कुटुम्ब है; वह कुटुम्ब सदैव जीव के साथ ही रहता है। जगत का माना हुआ कुटुम्ब तो पृथक् हो जाता है, इसलिये वह तो जीव से पृथक् ही है। जीव का कुटुम्ब जीव से पृथक् नहीं होता और न कभी पृथक् हो सकता है। ज्ञान, आनंद आदि अनंतगुण, वह जीव का कुटुम्ब है, वे सब गुण साथ ही रहते हैं, एक गुण के बिना दूसरा गुण नहीं होता—इसप्रकार आत्मा का सारा कुटुम्ब एक-दूसरे से सम्बन्धित और एकतावाला है। ऐसे कुटुम्बसहित आत्मा को जानकर उसकी श्रद्धा और उसमें एकग्रता करने से अनंतचतुष्टयमय मुक्तदशा प्रगट होती है। जो आत्मा की जीवनशक्ति को जान ले, उसे वैसा जीवन प्रगट होता है।

देखो, इसमें सच्चा ज्ञान और सच्ची क्रिया—दोनों आ जाते हैं।—किस प्रकार? वह कहा जाता है। मुझमें जीवत्वशक्ति है; मैं किसी पर के आधार से नहीं जीता हूँ, परन्तु अपने त्रिकाल चैतन्यभावप्राण से ही टिका हूँ;—इसप्रकार अपने त्रिकाली चैतन्यजीवन का भान करना, वह सच्चा ज्ञान है और उस ज्ञान से जाने हुए त्रिकाली चैतन्यस्वभाव के आश्रित रहने से शुद्धता की पुष्टि और अशुद्धता का नाश होना, सो क्रिया है। ऐसा ज्ञान और क्रिया, वह मोक्ष का कारण है।

आत्मा की जीवत्वशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को बनाए रखती है, परन्तु वह कहीं राग को नहीं बना रखती। जीवत्वशक्ति के कारण राग नहीं है और राग के कारण आत्मा का जीवत्व नहीं है। सिद्ध भगवन्तों के जीवत्वशक्ति है परन्तु राग-द्वेष नहीं है। यदि जीवत्वशक्ति के कारण राग-द्वेष हो तो सिद्धभगवान के भी राग-द्वेष होना चाहिए; और यदि राग-द्वेष के कारण जीवत्व हो तो सिद्धभगवान के जीवत्वशक्ति न रह सके; इसलिये राग में जीवत्व नहीं है और जीवत्व में राग नहीं है। इस जीवत्वशक्ति से आत्मा को देखने से रागादि समस्त भाव तो मरे हुए (चैतन्यस्वरूप में अभावरूप) दिखाई देते हैं, और चैतन्यस्वरूप एक आत्मा ही अपने द्रव्य-गुण और निर्मल पर्यायों से जीता-टिकता-शोभायमान दिखाई देता है। यहाँ तो शुद्धता की ही बात है, विकार को तो जीव माना ही नहीं है; विकारभाव, चैतन्यस्वभाव की अपेक्षा तो मृत ही हैं, उनमें जीवत्व नहीं है।

अरे जीव! तुझे अपने सच्चे जीवन का कारण ढूँढ़ना हो तो तू अपने में अपने चैतन्यप्राण को ही देख, वही तेरे टिकने का कारण है; इसके अतिरिक्त बाह्य के किसी भी कारण को न ढूँढ़! आत्मद्रव्य को कारणभूत मात्र चैतन्यभावप्राण है—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने अन्य सब कारणों को निकाल दिया है। यदि कारण कहना ही हो तो चैतन्यप्राणों को धारण करनेवाली यह जीवत्वशक्ति ही तेरे आत्मद्रव्य का कारण है। 'आत्मद्रव्य' कहने से यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों समझना। आत्मा के द्रव्य का जीवन, गुण का जीवन और पर्याय का जीवन,—उनमें यह जीवत्वशक्ति ही निमित्त है।

—जीवत्वशक्ति को 'निमित्त' क्यों कहा?—क्योंकि अनंतगुण का पिण्ड आत्मा है, उसमें भेद करके एक गुण को दूसरे गुण का कारण कहना, वह व्यवहार है; इसलिये यहाँ जीवत्वशक्ति को निमित्त कहा है; उपादानरूप से तो द्रव्य के प्रत्येक गुण-पर्याय अपनी स्वतंत्र शक्ति से अपने-अपने स्वरूप से टिके हैं।

जीवत्वशक्ति अनादि-अनंत है, वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को बना रखती है। 'साठे बुद्धि

नाठी' (साठ वर्ष की उम्र होने से बुद्धि कम हो जाती है)—ऐसा कहा जाता है, वह सब तो लोगों की बनावटी बाते हैं। आत्मा के जीवन को कभी वृद्धता आती ही नहीं; अमुक काल बीतने के पश्चात् आत्मा की पर्याय शिथिल हो जाये—ऐसा कदापि नहीं हो सकता। केवलज्ञान होने के पश्चात्, साठ तो क्या किन्तु अनंतकाल तक ज्यों की त्यों अवस्था होती रहती है; तथापि वह कभी किंचित्मात्र शिथिल नहीं होता। आयु की गिनती की जाती है, वह तो देह की आयु है; आत्मा के आयुष्य की मर्यादा नहीं है, आत्मा तो अनादि-अनंत है। सिद्धभगवान में भी जीवत्वशक्ति है; उस शक्ति का आकार आत्मा के प्रदेशानुसार है, और पूर्ण द्रव्य में, पूरे गुणों में तथा समस्त पर्यायों में वह व्याप्त होती है; इसलिये जीवत्वशक्ति को लक्ष में लेते हुए परमार्थ से सम्पूर्ण आत्मा ही लक्ष में आ जाता है।

वैद्य या ज्योतिषी के पास आयु पूर्ण होने की बात सुनकर अज्ञानी को महान दु:ख होता है; परन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि—भाई! तेरा जीवन तो अन्तर में है, इस देह में तेरा जीवन नहीं है। अपनी जीवत्वशक्ति से तेरा जीवन त्रिकाल है, उसे अन्तर में देख तो तुझे मृत्यु का भय दूर हो जायेगा! 'मैं तो अपनी जीवत्वशक्ति से जीता ही हूँ, मेरी मृत्यु होती ही नहीं'—ऐसा जान लिया, फिर मृत्यु का भय कैसे रहेगा? आत्मा में यह जीवत्वशक्ति एकमेक है, इसलिये ज्ञानमात्र आत्मस्वभाव को लक्ष में लेने से इस शक्ति की प्रतीति भी आ ही जाती है। यदि एक जीवत्वशक्ति को निकाल दिया जाये तो आत्मद्रव्य ही नहीं टिक सकता, इसलिये इस जीवत्वशक्ति को आत्मद्रव्य के कारणभूत कहा है। चैतन्यप्राण से त्रिकालस्थायी रहनेवाले आत्मद्रव्य के सन्मुख देखने से धर्म होता है।

यह शक्तियाँ किसकी हैं?—ज्ञानमात्र आत्मा की यह शक्तियाँ हैं। यहाँ मात्र एक शक्ति को पृथक् नहीं बतलाना है परन्तु ऐसी अनंत शक्तियाँ आत्मा में एकसाथ उछल रही हैं—ऐसा बतलाना है, इसलिये अनंत शक्तियोंवाले आत्मा पर दृष्टि करना, वह तात्पर्य है।

जिसप्रकार ज्ञान को लक्षण कहा वहाँ मात्र ज्ञानगुण को आत्मा से पृथक् करके नहीं बतलाना है, परन्तु ज्ञानलक्षण द्वारा अखण्ड आत्मा को ही बतलाना है; उसीप्रकार यहाँ ज्ञानमात्र भाव में आ जानेवाली शक्तियों का वर्णन है; इसलिये इन शक्तियों में से एक-एक शक्ति को भेद करके लक्ष में लें तो शुद्ध परिणमन नहीं होता परन्तु अनंत शक्ति के पिण्ड शक्तिमान ऐसे अभेद आत्मा को लक्ष में लेकर परिणमित होने से एकसाथ अनंत शक्तियों का निर्मल परिणमन प्रारम्भ हो जाता है।

अखण्ड चैतन्य के आश्रयपूर्वक इन त्रिकाली शक्तियों को जानने से पर्याय में भी उनका अंश 'प्रगट' होता है; इस प्रकार वर्तमान परिणमन सहित की यह बात है। त्रिकाल शक्तियों के पिण्ड को स्वीकार करे और पर्याय में उनका बिल्कुल परिणमन प्रगट न हो—ऐसा नहीं हो सकता। शक्ति के साथ व्यक्ति की संधि है। त्रिकाली शक्ति को स्वीकार करने से उसकी व्यक्ति की भी प्रतीति हो जाती है अर्थात् साधकदशा का निर्मल परिणमन प्रारम्भ हो जाता है।

इन शक्तियों की यथार्थ स्वीकृति किसके सन्मुख देखकर होती है ?

(१) पर में तो इन शक्तियों का बिल्कुल अभाव है, इसलिये परसन्मुख देखकर इन शक्तियों की यथार्थ स्वीकृति नहीं होती;

(२) विकार एक समयपर्यंत की पर्याय में है, उसके आश्रय से भी यह त्रिकाली शक्ति नहीं टिकी है, इसलिये उस विकारसन्मुख देखकर इन शक्तियों की यथार्थ स्वीकृति नहीं होती।

(३) निर्मल पर्याय भी एक समयपर्यंत की है, उसके आश्रय से भी यह त्रिकाली शक्ति नहीं टिकी है, इसलिये उस पर्याय के सन्मुख देखकर इन शक्तियों की स्वीकृति नहीं होती।

(४) आत्मा अनंत शक्ति का पिण्ड है; उसके आश्रय से प्रत्येक शक्ति टिकी है; अनंत शक्तियों के पिण्ड आत्मा में से एक शक्ति का भेद करके उसके सन्मुख देखने से भी भेद का विकल्प उठता है, इसलिये एक-एक शक्ति के भेद के सन्मुख देखकर भी इन शक्तियों की यथार्थ स्वीकृति नहीं होती।

(५) अनंत गुणों का पिण्ड अभेद चैतन्यमूर्ति आत्मा है, उसके सन्मुख देखकर ही अनंत शक्तियों की यथार्थ स्वीकृति होती है, और अभेद आत्मा के आश्रय से अनंत शक्तियों की निर्मल पर्याय प्रगट हो जाती है।

आत्मा की अनंत शक्तियों में से कोई भी शक्ति निमित्त के, विकार के, पर्याय के या भेद के आश्रित नहीं है; प्रत्येक शक्ति अभेद आत्मा के ही आश्रित है; इसलिये अभेद आत्मा की दृष्टिपूर्वक ही इन शक्तियों का यथार्थ ज्ञान होता है। अभेद आत्मा की दृष्टि के बिना किसी भी भेद-पर्याय-विकार या निमित्त के आश्रय से लाभ माने तो मिथ्यात्व होता है; उसके इन शक्तियों का निर्मल परिणमन नहीं होता।

यह सूक्ष्म बात है, इसलिये हमारी समझ में नहीं आयेगी—ऐसा नहीं मान लेना चाहिए। आत्मा सूक्ष्म है, इसलिये उसकी बात भी सूक्ष्म ही होती है; और सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को समझने की

शक्ति भी आत्मा में ही है। भाई! तू सूक्ष्म, तेरी बात भी सूक्ष्म और तेरा ज्ञान भी सूक्ष्म को समझने के स्वभाववाला है; इसलिये आत्मा की रुचि करके समझ! शरीर की क्रिया से धर्म होता है—इसप्रकार की स्थूल-मिथ्या बात तो अनादिकाल से पकड़ रखी है, परन्तु उससे कल्याण नहीं हुआ। इसलिये अब कल्याण करना हो तो सूक्ष्म आत्मा को समझने से ही उद्धार है। जड़ पदार्थ की बात स्थूल होती है परन्तु आत्मा की बात तो सूक्ष्म ही होती है; क्योंकि आत्मा में एक सूक्ष्मत्व नाम का गुण अनादि-अनंत है। सूक्ष्म गुण के कारण सारा आत्मा सूक्ष्म है; द्रव्य सूक्ष्म, उसके गुण सूक्ष्म, और उसकी पर्यायें भी सूक्ष्म। ऐसा सूक्ष्म आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं होता, परन्तु अतीन्द्रियज्ञान में उसे जानने का सामर्थ्य है। यदि आत्मा इन्द्रियग्राह्य हो जाये तो आत्मा की कोई महिमा हो न रहे। ज्ञान को सूक्ष्म अर्थात् इन्द्रियों से पार करके अन्तर्मुख करे, तभी आत्मा ज्ञात होता है—ऐसी आत्मा के स्वभाव की महिमा है। एक बारीक मोती पिरोना हो तो वहाँ भी ध्यान रखना पड़ता है; वह मोती तो अनंत परमाणुओं का स्थूल स्कंध है; तब फिर अतीन्द्रिय ऐसे आत्मा को पकड़ने के लिये उसमें बराबर ध्यान पिरोना चाहिए।

आत्मा में एकसाथ अनंत शक्तियाँ हैं; उनमें से यहाँ प्रथम जीवत्वशक्ति का वर्णन किया। यह सब शक्तियाँ आत्मा के ज्ञानमात्रभाव में अंत:पातिनी हैं अर्थात् आत्मा का लक्ष करने से ज्ञानमात्रभाव का परिणमन हुआ, उसमें यह शक्तियाँ उछलती हैं... प्रगट होती हैं... व्यक्त होती हैं... परिणमित होती हैं। परन्तु ज्ञानभाव के साथ कहीं राग या शरीर नहीं उछलते, उनका तो ज्ञान में अभाव है। जिसप्रकार गुलाब के फूल की कली खिलने से उसके साथ उसका गुलाबी रंग, सुगंध आदि तो साथ ही विकसित होते हैं, परन्तु कहीं धूल आदि विकसित नहीं होते; उसीप्रकार चैतन्यस्वभाव में लक्ष करने से ज्ञानमात्रभाव का जो परिणमन हुआ, उसके साथ वह जीवत्व आदि शक्तियाँ तो उछलती हैं-शुद्धतारूप परिणमित होती हैं, परन्तु उस ज्ञान के परिणमन के साथ कहीं रागादिभाव नहीं उछलते; उनका तो अभाव होता जाता है। 'रागादि का अभाव होता है'—वह भी व्यवहार से है; वास्तव में तो ज्ञानमात्र आत्मस्वभाव में रागादि हैं ही नहीं, तब फिर उनका अभाव होना भी कहाँ रहा? राग था और दूर हो गया—यह बात पर्याय अपेक्षा से है; यहाँ पर्याय पर जोर नहीं है, यहाँ तो स्वभाव की अस्ति पर ही जोर है।

चैतन्यप्राण को धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति आत्मा को अनादि-अनंतकाल तक टिका रखती है; यह शक्ति तो आत्मा में अनादि-अनंत है, परन्तु जिसे आत्मा का भान हुआ, उसके

ज्ञानमात्रभाव में यह शक्ति उछली—ऐसा कहा है। पहले भी यह शक्ति थी तो अवश्य, परन्तु उसका भान नहीं था। जिसप्रकार मेरुपर्वत के नीचे सोना है; लेकिन यह किस काम का? उसीप्रकार आत्मा में केवलज्ञानशक्ति है, जीवत्वशक्ति है, परन्तु उसके भान बिना वह किस काम की? अनंत शक्तिवाले आत्मा को पहिचानकर उसके आश्रय से परिणमित हो तो समस्त शक्तियाँ निर्मल स्वरूप से उछलें, अर्थात् साधकदशा प्रगट होकर अल्पकाल में मुक्ति हो!

—इसप्रकार यहाँ प्रथम जीवत्वशक्ति का वर्णन पूर्ण हुआ। ●●

नियमसार-परमागम का उद्देश

शास्त्रकार संतों ने इस परमागम के प्रत्येक पृष्ठ में भरा हुआ

अनुभवसिद्ध परमसत्य का सार

'नियमसार' का अर्थ है नियम का सार अर्थात् शुद्ध रत्नत्रय। इस शुद्ध रत्नत्रय की प्राप्ति परमात्मतत्त्व का आश्रय करने से ही होती है। निगोद से लेकर सिद्ध तक की सर्व अवस्थाओं में—अशुभ, शुभ अथवा शुद्ध विशेषों में—विद्यमान जो नित्य निरंजन टंकोत्कीर्ण शाश्वत् एकरूप शुद्धद्रव्य सामान्य है, वह परमात्मतत्त्व है। वही शुद्ध अंत:तत्त्व, कारणपरमात्मा, परम पारिणामिकभाव आदि नामों से कहा जाता है। इस परमात्मतत्त्व की उपलब्धि, अनादिकाल से अनंतानंत दु:खों का अनुभव करते हुए जीव ने एक क्षणमात्र भी नहीं की और इसीलिये सुख के लिये उसके मिथ्या प्रयास (द्रव्यलिंगी मुनि के व्यवहाररत्नत्रय भी) सर्वथा व्यर्थ गये हैं। इसलिये

इस परमागम का एकमात्र उद्देश जीवों को परमात्मतत्त्व की उपलब्धि अथवा आश्रय कराने का है। ['मैं ध्रुव शुद्ध आत्मद्रव्य सामान्य हूँ'—ऐसी सानुभव श्रद्धापरिणति से लेकर परिपूर्ण लीनता तक की किसी भी परिणति को परमात्मतत्त्व का आश्रय, परमात्मतत्त्व का आलम्बन, परमात्मतत्त्व की ओर झुकाव, परमात्मतत्त्व के प्रति सन्मुखता, परमात्मतत्त्व की उपलब्धि, परमात्मतत्त्व की भावना, परमात्मतत्त्व का ध्यान आदि शब्दों से कहा जाता है।]

शास्त्रकार आचार्य भगवान ने और टीकाकार मुनिवर ने इस परमागम के प्रत्येक पृष्ठ में जो अनुभवसिद्ध परम सत्य की घोषणा की है, उसका सार इसप्रकार है:—हे जगत के जीवों! तुम्हारे सुख का एकमात्र उपाय परमात्मतत्त्व का आश्रय है। सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्ध तक की सर्व भूमिकाएँ उसमें समा जाती हैं। परमात्मतत्त्व का जघन्य आश्रय, यह सम्यग्दर्शन है। वह आश्रय मध्यम कोटि की उग्रता धारण करने पर जीव को देशचारित्र, सकलचारित्र आदि दशाएँ प्रगट होती हैं और पूर्ण आश्रय होने से केवलज्ञान और सिद्धत्त्व प्राप्त करके जीव सर्वथा कृतार्थ होता है। इसप्रकार परमात्मतत्त्व का आश्रय ही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है, वही सम्यग्चारित्र है, वही सत्यार्थ प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित, सामायिक, भक्ति, आवश्यक, समिति, गुप्ति, संयम, तप, संवर, निर्जरा, धर्म-शुक्लध्यान आदि सबकुछ है। ऐसा एक भी मोक्ष के कारणरूप भाव नहीं है, जो परमात्मतत्त्व के आश्रय से अन्य हो। परमात्मतत्त्व के आश्रय से अन्य ऐसे भावों को (—व्यवहारप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रत्याख्यान आदि शुभविकल्परूप भावों को—) मोक्षमार्ग कहा जाता है, वह तो मात्र उपचार से कहा जाता है। परमात्मतत्त्व के मध्यम कोटि के अपरिपक्व आश्रय के समय उस अपरिपक्वता के कारण साथ में जो अशुद्धिरूप अंश विद्यमान होता है, वह अशुद्धिरूप अंश ही व्यवहारप्रतिक्रमणादि अनेकानेक शुभविकल्पात्मक भावों रूप दिखलाई देता है। वह अशुद्धि-अंश सच्चा मोक्षमार्ग कैसे हो सकता है? वह तो वास्तव में मोक्षमार्ग से विरुद्धभाव ही है; बंधभाव ही है—ऐसा तुम समझो!

और, द्रव्यलिंगी मुनि को जो प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि शुभभाव होते हैं, वे भाव तो प्रत्येक जीव अनंत बार कर चुका है, परन्तु वे भाव उसे मात्र परिभ्रमण के ही कारण हुए हैं क्योंकि परमात्मतत्त्व के आश्रय बिना आत्मा का स्वभावपरिणमन अंशतः भी नहीं होता, इसलिये उसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति अंशमात्र भी नहीं होती। सर्व जिनेन्द्रों की दिव्यध्वनि का संक्षेप और हमारे

स्वसंवेदन का सार यह है कि भयंकर संसार-रोग की एकमात्र औषधि परमात्मतत्त्व का आश्रय ही है। जबतक जीव की दृष्टि ध्रुव-अचल परमात्मतत्त्व पर न पढ़कर क्षणिक भावों पर रहती है तबतक अनंत उपाय करने पर भी उसकी कृतक औपाधिक हिलोरें (शुभाशुभ विकल्प) शांत नहीं होतीं, परन्तु जब उस दृष्टि को परमात्मतत्त्वरूप ध्रुव आलम्बन हाथ में आता है, तब उसी क्षण वह जीव (दृष्टि-अपेक्षा से) कृतकृत्यता का अनुभव करता है; (दृष्टि-अपेक्षा से) विधि-निषेध विलय को प्राप्त होते हैं, अपूर्व समरसभाव का वेदन होता है, निजस्वभावरूप परिणमन का प्रारम्भ होता है और कृतक औपाधिक हिलोरें क्रमशः शांत होती जाती हैं। इस निरंजन निज परमात्मतत्त्व के आश्रयरूप मार्ग से ही सर्व मुमुक्षु भूतकाल में पंचम गति को प्राप्त हुए हैं, वर्तमान में प्राप्त हो रहे हैं और भविष्य में प्राप्त होंगे। यह परमात्मतत्त्व सर्व तत्त्वों का सार है, त्रिकाल-निरावरण, नित्यानन्द, एकस्वरूप है, स्वभाव-अनंत चतुष्टय से सनाथ है, सुखसागर का ज्वार है, क्लेशोदधि का किनारा है, चारित्र का मूल है, मुक्ति का कारण है। सर्व भूमिका के साधकों को यही एक उपादेय है। हे भव्य जीवों! तुम इस परमात्मतत्त्व का आश्रय करके शुद्ध रत्नत्रय प्रगट करो! इतना न कर सको तो सम्यग्दर्शन तो अवश्य ही करो! यह दशा भी अभूतपूर्व और अलौकिक है!

[—नियमसार गुजराती के उपोद्घात में से]

धार्मिकोत्सव-प्रवचन

[२]

[भाद्रपद कृष्णा १३ : समयसार गाथा २८३-८४-८५]

भगवान का उपदेश ऐसा बतलाता है कि—आत्मा स्वभाव से विकार का कर्ता नहीं है।

यह अधिकार सूक्ष्म और अपूर्व है। अनादिकाल से अपने जिस स्वभाव को नहीं समझा उसे समझकर संसार का अंत आये, ऐसी यह बात है।

आत्मा इस शरीर से भिन्न नित्य ज्ञानस्वभावी वस्तु है; उसमें स्वभाव से विकार नहीं है; विकार तो प्रतिक्षण पराश्रय से उत्पन्न होकर नष्ट होता है। आचार्यदेव कहते हैं कि वस्तुस्वभाव से देखने पर तो आत्मा विकार का अकारक ही है, इसीलिये 'तू विकार को छोड़' ऐसा आगम का उपदेश है। यदि विकार का कर्ता होने का आत्मा का स्वभाव हो तो उसे छोड़ने का उपदेश क्यों हो?

यदि जीव, पर की रुचि और परोन्मुखता करे तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान रहता है; उसका अर्थ यह हुआ कि स्वभाव पर दृष्टि करे तो वह विकार का कर्ता नहीं है। 'मेरा आत्मस्वभाव ठीक नहीं है, और परपदार्थ हों तो मुझे ठीक रहे'—ऐसा जो अज्ञानी का भाव है, वह बंधनभाव है। जबतक पर को और पर के आश्रय से होनेवाले विकार को ठीक माने, तबतक जीव को मिथ्यात्वादि का अप्रतिक्रमण है; किन्तु 'तू परद्रव्य के आश्रय से होनेवाले विकार की रुचि छोड़, तू निमित्त के आश्रय को छोड़'—ऐसा जो भगवान का उपदेश है, वह ऐसा बतलाता है कि वास्तव में आत्मा स्वभाव से विकार का कर्ता नहीं है। 'पर से तू विमुख हो'-ऐसा जो उपदेश है, वह आत्मा के अकर्तापने को ही घोषित करता है। यदि आत्मा, विकार का अकर्ता न हो तो 'तू पर से विमुख होकर स्वोन्मुख हो'—ऐसा उपदेश ही नहीं हो सकता।

भगवान! एकबार अंतर में दृष्टि करके तू आत्मा को देख तो! कि मेरा आत्मा विभाव का अकर्ता ही है; स्वभाव की दृष्टि से देखने पर आत्मा को विभाव का कर्तृत्व है ही नहीं। पर निमित्त और उसके लक्ष से होनेवाले विकारभाव की संधि को तोड़ और आत्मा के साथ संधि कर... ऐसा सर्वज्ञ भगवान का उपदेश आत्मा के अकर्तृत्व की घोषणा करता है।

पूर्व काल में मुझे अमुक परवस्तु प्राप्त हुई, यह अच्छा हुआ और पूर्व काल में मुझे विभाव

हुआ, यह भी अच्छा हुआ; पूर्वकाल में जो पुण्यबंध हुआ, वह अच्छा था—ऐसा भाव रहे वह अप्रतिक्रमण है; तथा भविष्य में मुझे विदेहक्षेत्र और तीर्थंकर भगवान आदि परवस्तु प्राप्त हो तो ठीक और उसके लक्ष से होनेवाला विभाव भी ठीक; ऐसा भाव रहे, वह अप्रत्याख्यान है।—ऐसे भावों को तू छोड़—ऐसा आगम का उपदेश है, वह विभाव की अनित्यता बतलाता है, और विभावरहित शुद्धस्वभाव की नित्यता बतलाता है। आत्मा, परभावों से विमुख होकर स्वभावोन्मुख होने से विकारभाव नहीं होता क्योंकि विकार, आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा अपने स्वभाव से विकार का अकर्ता है।

चिदानंदस्वरूप भगवान आत्मा! तेरे स्वभाव में विकार नहीं है, तू क्षणिक विकार का कर्ता नहीं है; तू पर के ऊपर लक्ष मत कर, पर के लक्ष से होनेवाले विभाव को अच्छा मत मान!—ऐसा जो सर्वज्ञ का उपदेश है, वह तेरे अकर्तृत्व को घोषित करता है। पर निमित्त पर लक्ष जाये, वह स्थायी वस्तु नहीं है और विकार भी स्थायी वस्तु नहीं है, वह क्षणिक है, उन क्षणिक भावों को तू छोड़, अर्थात् उनके कर्तृत्व को छोड़कर अपने अकर्ता स्वभाव की ओर उन्मुख हो।—ऐसा उपदेश आत्मा को स्वभाव से विकार का अकर्तृत्व बतलाता है।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कब होता है ?

अप्रतिक्रमण या अप्रत्याख्यान का भाव कहीं भूतकाल में या भविष्य में नहीं है, वे दोनों भाव तो वर्तमान में ही हैं, और उन्हें छोड़कर प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का भाव भी वर्तमान में ही है। वर्तमान जो भाव परोन्मुख हुआ, उसमें अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान है; और वर्तमान जो भाव स्वभावोन्मुख हुआ, वह भाव स्वयं ही प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान है। प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का भाव पृथक्-पृथक् नहीं है। भूतकाल के या भविष्य के विभाव की रुचि तो वर्तमान भाव में छूटती है; जहाँ वर्तमान भाव स्वोन्मुख हुआ, वहाँ उसमें से भूत-भविष्य का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान छूट गया। इसलिये निश्चित होता है कि भगवान आत्मा स्वभाव से विकार का अकर्ता ही है। धर्मी जीव को श्रद्धा अपेक्षा से तो प्रतिक्षण निरंतर विकार का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान वर्त रहा है। जो जीव, राग को अपना कर्तव्य मानता है और रागरहित ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख नहीं होता, वह जीव भले ही महाव्रतों का पालन करता हो तथापि, प्रतिक्षण और प्रतिपल मिथ्यात्वादि का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान ही कर रहा है। जो अज्ञानी जीव पर्यायदृष्टि से विकार का कर्ता हो रहा है, उसे आचार्यदेव समझाते हैं कि—देख भाई! स्वभावदृष्टि

से तू विकार का अकर्ता है, इसलिये विकार की और निमित्त की दृष्टि छोड़! स्वभाव के आश्रय से विकार नहीं होता किन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से ही विकार होता है, इसलिये स्वभाव से तू विकार का कर्ता नहीं है।—ऐसा समझकर स्वभाव का आश्रय कर और विकार का कर्तृत्व छोड़, जो सच्चा प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान हो।

आगम का उपदेश आत्मा का अकर्तृत्व प्रगट करता है

'अप्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से द्विविध (दो प्रकार का) उपदेश है वह, द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिकपने को प्रगट करता हुआ आत्मा के अकर्तृत्व को बतलाता है।

पूर्व के परद्रव्य से विमुख न होना, वह द्रव्य अप्रतिक्रमण है; और पूर्व के विभाव से विमुख न होना, सो भाव अप्रतिक्रमण है।—ऐसा दो प्रकार का अप्रतिक्रमण है।

इसीप्रकार, भविष्य में किसी भी परद्रव्य की प्राप्ति हो तो ठीक, ऐसा जो भाव है, सो द्रव्य अप्रत्याख्यान है और भविष्य में राग-विकारभाव हो तो ठीक—ऐसा भाव, सो भाव अप्रत्याख्यान है।—ऐसा दो प्रकार का अप्रत्याख्यान है।

वर्तमान पर्याय स्वभावोन्मुख न होकर जितनी परोन्मुख हो, उतना अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान है। यह दोनों प्रकार के अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान छोड़ने योग्य हैं—ऐसा जो आगम का उपदेश है, वह आत्मा के अकर्तृत्व को ही प्रगट करता है। यदि आत्मा स्वभाव से उनका कर्ता हो तो उन्हें छोड़ने का उपदेश नहीं हो सकता।

द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का जो अप्रतिक्रमणादि का उपदेश है, वह ऐसा प्रगट करता है कि परद्रव्य निमित्त है और उसके आश्रय से होनेवाला विकार, वह नैमित्तिक है; इसप्रकार विकार में पर के साथ के निमित्त-नैमितितकपने की घोषणा होती है; किन्तु उसमें आत्मा की घोषणा नहीं होती, अर्थात् द्रव्य और भाव का जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, वह आत्मा का अकर्तृत्त्व सिद्ध करता है। जबतक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की दृष्टि है, तभी तक आत्मा को अप्रतिक्रमणादि का कर्तृत्व है, किन्तु स्वभाव से आत्मा विकार का कर्ता नहीं है।

मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण कब होता है ?

यहाँ जो द्रव्य और भाव का निमित्त-नैमित्तिकपना है, उस पर अज्ञानी की ही दृष्टि है, और वही उसे बंध का कारण है। ज्ञानी को स्वभाव की दृष्टि में पर के साथ निमित्त-नैमित्तिकपना टूट

गया है। आत्मा के अतिरिक्त जगत की सभी वस्तुएँ परद्रव्य हैं, उनकी रुचि से मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बनध को जो लाभ का कारण माने, वह निमित्त की ओर की उन्मुखता छोड़कर स्वोन्मुख नहीं होता और उसके मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण नहीं होता। तू पर निमित्त की रुचि छोड़ और पराश्रय व्यवहाररत्नत्रयरूप राग की रुचि छोड़कर स्वभावोन्मुख हो—ऐसा उपदेश कब हो सकता है ?- कि जब स्वभाव से आत्मा विकार का अकर्ता ही, तभी यह उपदेश बन सकता है।

विकारभाव नैमित्तिक, और परद्रव्य वह निमित्त;—ऐसा विकार का निमित्त-नैमित्तिकपना पर के साथ है, किन्तु आत्मा के स्वभाव के साथ नहीं है; इसलिये आत्मा उसका अकर्ता ही है। ऐसे आत्मस्वभाव की दृष्टि होने से ही मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण हो जाता है। वास्तव में मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण करना नहीं पड़ता किन्तु जहाँ स्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ मिथ्यात्व की उत्पत्ति ही नहीं हुई, इसलिये मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण किया—ऐसा कहा जाता है।

देखो! यह प्रतिक्रमण करने की बात चल रही है। सर्व पापों में सब से महान पाप मिथ्यात्व का है; सर्व प्रथम उस मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण होता है। अनादि-कालीन मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण किए बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। जिसे मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण करना हो, उसे क्या करना चाहिए ?—कि सर्व प्रथम तो आत्मा का ज्ञानस्वभाव, विकार का अकर्ता है—ऐसा समझकर अपने स्वभाव की दृष्टि करने से मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण हो जाता है, और भविष्य के मिथ्यात्व का प्रत्याख्यान भी साथ ही हो जाता है। अनादि से एक क्षणमात्र भी जीव ने ऐसा प्रतिक्रमण नहीं किया है। यदि एकबार भी ऐसा प्रतिक्रमण करे तो अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना न रहे।

अहो! आत्मा के निरपेक्ष अकर्ता स्वभाव में ही अन्तर्मुख हो!

अहा! देखो तो, आचार्यदेव आत्मा का निरपेक्ष स्वभाव बतलाते हैं। किसी भी निमित्त की उपाधि भगवान आत्मा को नहीं है। विभाव और विभाव के निमित्त - इन दोनों का आत्मा अकर्ता है। विभाव में परद्रव्य निमित्त है, विभाव पर के आश्रय से होता है किन्तु आत्मा के आश्रय से नहीं होता, इसलिये आत्मा स्वभाव से विकार का अकर्ता है। अहो! ऐसा अकर्तृत्व जिसे अनुकूल हो, उसे पुण्य-पाप विकार की रुचि रहती ही नहीं। चैतन्यस्वभाव, ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा निरपेक्ष निरालंबी है; किसी भी पर का अवलम्बन उसे नहीं है और परावलम्बन से होनेवाला विकार भी उसके नहीं है। ऐसे महिमावंत अपने स्वभाव को न मानकर जिसने एक भी परद्रव्य की या पर के

आश्रय से होनेवाले विकार की रुचि की, उसने स्वभाव का अनादर करके तीनों काल के विभाव का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान किया है, वह महान अधर्म है। हे भाई! उस अधर्म को छोड़कर अब यदि तुझे धर्म करना हो तो आचार्य भगवान कहते हैं कि परवस्तु और उसके आश्रय से होने वाले विभाव से रहित ऐसा तेरा चैतन्यस्वभाव स्थायी है, उसी का स्वीकार कर, उसकी दृष्टि करके उसमें अंतर्मुख हो। जिसने अन्तरोन्मुखता छोड़कर किसी भी बहिर्मुख वृत्ति से लाभ माना, वह मिथ्यादृष्टि है—फिर चाहे भले ही इस आत्मा के अतिरिक्त सिद्ध भगवान के या तीर्थंकर भगवान के ओर की वृत्ति हो, तथापि उस रागभाव से लाभ माने, वह मिथ्यादृष्टि ही है। इसलिये हे जीव! तू परवस्तु की और उसके आश्रय से होनेवाले विकार की रुचि छोड़ और अंतरस्वभाव की रुचि कर! ऐसा सर्वज्ञ के आगम का आदेश है, और आत्मा को अकर्तापना है—ऐसा वह प्रगट करता है।

स्वभावसन्मुख होकर निमित्त के साथ का सम्बन्ध तोड़ना, सो धर्म है

सम्यग्दृष्टि ने अपने अकर्ता-ज्ञायक साक्षी-स्वभाव को जाना है, इसलिये उसे पुण्य-पाप की भावना नहीं होती किन्तु पुण्य-पापरहित चिदानन्द आत्मस्वभाव की ही भावना होती है। आत्मस्वभाव स्वयं विकार का कारण नहीं है, विकार का निमित्त परवस्तु ही है।—इसप्रकार जो द्रव्य और भाव का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भगवान ने कहा है, वह आत्मा के अकर्तृत्व को प्रगट करता है। जिसने निमित्त-नैमित्तिक की संधि को तोड़ दिया और स्वभाव के साथ संधि की, वह जीव, विकार का कर्ता नहीं होता। राग के और निमित्त के सम्बन्ध को प्रगट करनेवाला ज्ञान आत्मस्वभाव में युक्त होता है और निमित्त के साथ के सम्बन्ध को तोड़ डालता है; इसलिये आत्मा विभाव का अकर्ता है। ऐसे आत्मा की रुचि-प्रतीति-महिमा करके उसके सन्मुख होना, वह धर्म है।

यह बात समझे बिना मिथ्यात्व के मूल का उत्थापन नहीं होता। निरपेक्ष स्वभाव का अनुमोदन न करके निमित्त-नैमित्तिक भाव का अनुमोदन करना ही अधर्म का मूल है; और पर के साथ के निमित्त-नैमित्तिक संबंध की दृष्टि छोड़कर निरपेक्षस्वभावसन्मुख होना, वह धर्म का मूल है।●●

भगवान श्री कुंदकुंद-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी-प्रकाशन

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये जिज्ञासु निम्नलिखित पुस्तकों की स्वाध्याय अवश्य करें !

समयसार प्रवचन – भाग १	६–०–०
समयसार प्रवचन – भाग २	५–०–०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें	१–६–०
दसलक्षणधर्म	०–१२–०
सम्यग्दर्शन	२–८–०
भेदविज्ञानसार	२–०–०
मूल में भूल	०–१२–०
मुक्ति का मार्ग	०–१०–०
आत्मधर्म की वार्षिक फाइलें	३–१२–०

उपरोक्त पुस्तकों में ''सम्यग्दर्शन'' नाम की पुस्तक अभी प्रगट हुई है, जो प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य पढ़ने योग्य है।

(डाक व्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: मुद्रक-प्रकाशक :

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये

जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकड़िया